

## टी.वी.आर सुब्बू चेट्टी की फैमिली चैरिटीज

बनाम

एम. राघव मुदलियार ओर अन्य

(न्यायाधिपतिगण पी.बी गजेंद्रगडकर, के.एन वांचू एवं के.सी दासगुप्ता)

हिंदू विधि- विधवा द्वारा अंतरण -अंतरण को रद्द करने हेतु प्रत्यावर्तनकर्ता का वाद- प्रत्यावर्तनकर्ता द्वारा अंतरण का अनुसमर्थन।

एम एक हिंदू अपनी मां, विधवा, बहनों ओर बहनों के बेटे-बेटियों को छोड़कर मर गया। मां और विधवा के बीच विवाद होते रहे, जिनमें कुछ मध्यस्थों के द्वारा समझौता कराया गया। इस समझौते के अंतर्गत एक मकान में से एक हिस्सा मृतक एम की बहन को दिया गया, दूसरा हिस्सा दूसरी बहन के बेटे आर और उसकी बहन को एवं तीसरा हिस्सा तीसरी बहन की पुत्री को दिया। समझौते के तहत निश्चित सम्पत्ति को बेचने की सहमति बनी थी जो उसकी मां और विधवा द्वारा अपीलकर्ता को बेची गई। मां व विधवा की मृत्यु के पश्चात आर द्वारा एम के प्रत्यावर्तनकर्ता के रूप में बेची गई सम्पत्ति के प्रत्यावर्तन के लिए मुकदमा इस आधार पर दायर किया कि अंतरण बिना आवश्यकता के था और उस पर बाध्यकारी नहीं है। अपीलकर्ता ने तर्क दिया (1) कि आर को मां और विधवा के बीच हुए समझौते पर विवाद करने से रोका गया था क्योंकि

उसने इस समझौते के तहत लाभ प्राप्त किया था और अपने आचरण से इसका अनुसमर्थन किया था और (ii) अंतरण विधिक आवश्यकता के लिए किया गया था।

अवधारित किया कि, अंतरण आर पर बाध्यकारी नहीं था और वह इसे टालने का हकदार था। माता और विधवा के बीच हुआ समझौता आर पर बाध्यकारी भी नहीं था। यदि एक व्यक्ति संभावित प्रत्यावर्तनकर्ता के रूप में अपने अधिकारों के बारे में पूर्ण

जानकारी रखता है और संव्यवहार में सम्मिलित होता है जिससे उसका दावा तथा विरोधी के दावे का प्रासंगिक समय में निपटारा होता है तो वह व्यवस्था पर वापस जाने के लिए अनुमत नहीं किया जा सकता , जबकि प्रत्यावर्तन वास्तव में खुला हो। लेकिन प्रत्यावर्तनकर्ता को इस संव्यवहार के अंतर्गत कुछ लाभ प्राप्त हुआ है या जब यह घटित हुआ तब इसकी वैधता को चुनौती नहीं दी गई,मात्र इस तथ्य से प्रत्यावर्तनकर्ता के रूप में उसके अधिकारों पर रोक नहीं लगाई जा सकती है। यह हमेशा एक तथ्य का प्रश्न रहेगा कि क्या अनुसमर्थन की दलील जो प्रत्यावर्तनकर्ता के आचरण पर आधारित है, कानूनी रूप से तथाकथित अनुसमर्थन के रूप में उचित है। वर्तमान मामले में समझौता पारिवारिक व्यवस्था की प्रकृति का नहीं था, उस समय आर अवयस्क था और उपरोक्त संव्यवहार में से किसी का पक्षकार नहीं था। आर का आचरण ऐसा नहीं था जो समझौता या अन्य संक्रामण का अनुसमर्थन करता हो। उस समय जब उसने उपहार स्वीकार किया वह संभावित प्रत्यावर्तनकर्ता के रूप में अपने अधिकारों को नहीं जानता था। इसके अलावा अंतरण के लिए कोई विधिक आवश्यकता नहीं थी।

संदर्भित:- साहू माधो दास बनाम पंडित मुकंद राम (1955) 2 एस.सी.आर. 22, ध्यान सिंह बनाम जुगल किशोर, (1952) एस.सी.आर. 478, कन्हार्ल लाल बनाम बृज लाल (1918) एल.आर. 45 आई.ए. 118, रंगासामी गौडेन बनाम नचिअप्पा गौडेन (1918) एल.आर 46 आई.ए 72 और रामगौडा अन्नागौडा बनाम भाऊसाहेब (1927) एल.आर. 54 आ.ई.ए. 396,

सिविल अपीलीय क्षेत्राधिकार

मद्रास उच्च न्यायालय की ओ.एस. अपील क्रमांक 13/1948 के

निर्णय एवं डिक्री दिनांक 23 फरवरी 1951 के विरुद्ध अपील

आर. केशव अयंगर और एम.एस.के. अयंगर अपलार्थीगण की ओर से ए.वी. विश्वनाथ शास्त्री एवं नौनित लाल – प्रतिवादी संख्या 1 की ओर सेबी.के.बी. नायडू प्रतिवादी संख्या 6 की ओर से

निर्णय – 27 जनवरी 1961- न्यायालय का निर्णय सुनाया गया- न्यायाधिपति गजेंद्रगडकर – यह अपील प्रत्यर्थी एम राघव मुदलियार द्वारा दायर एक मुकदमे से उत्पन्न हुई है जो माधव रामानुज मुदलियार का प्रत्यावर्तनकर्ता होने का दावा करता है। अपने मुकदमे में प्रत्यर्थी ने आरोप लगाया कि मार्च 1893 को माधव रामानुज मुदलियार की मृत्यु के बाद उनकी सम्पत्ति उनकी विधवा मणिकम्मल के कब्जे में आ गई। बाद में उक्त मणिकम्मल और मृतक माधव रामानुज मुदलियार की विधवा मां रेंगम्मल ने बिना किसी विधिक आवश्यकता के सम्पत्तियों का अन्य संक्रामण कर दिया। प्रत्यर्थी के अनुसार उक्त अन्य संक्रामण उस पर बाध्यकारी नहीं था और इसलिए वह उक्त सम्पत्ति को बिना किसी बाधा या भाररहित अवस्था में कब्जा पाने का अधिकारी था। मणिकम्मल की मृत्यु 18 अक्टूबर 1941 को हुई जबकि रेंगम्मल की मृत्यु जून 1921 में हुई विधवा मणिकम्मल की मृत्यु पर प्रत्यावर्तन खुला हो गया और उससे प्रत्यर्थी को वर्तमान वाद प्रस्तुत करने का वाद कारण उत्पन्न हुआ।

माधव रामानुज मुदलियार की निःसंतान मृत्यु हुई थी और उसके परिवार में उसकी विधवा, उसकी विधवा मां, उसकी बहन अंदलम्मल और प्रत्यर्थी और उसकी बहन अपुरुपम्मल, जो माधव रामानुज मुदलियार की दूसरी बहन अम्माकन्नु अम्माल की संतान है तथा माधव रामानुज मुदलियार की तीसरी बहन की बेटी एथिराजम्मल है। प्रत्यर्थी ने उसके मुदकमे में अपीलकर्ता अंडालम्मल कृष्णासामी मुदलियार जो अपुरुपम्मल का पुत्र है (प्रतिवादी संख्या 1) सुशीला बाई अम्माल जो एथिराजम्मल की

पुत्री है को प्रतिवादी संख्या 2 से 4 के रूप में पक्षकार बनाया। उदयवर मंदिर के एकमात्र ट्रस्टी बिसानी कृष्णैया चेट्टी को प्रतिवादी संख्या 5 के रूप में जोड़ा गया।

अपने पति की मृत्यु के पश्चात मणिकम्मल ने मद्रास उच्च न्यायालय से अपनी सम्पत्ति का प्रशासन पत्र प्राप्त किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि विधवा के अपनी सास के साथ संबंध खराब थे और इस कारण उनके बीच विवाद होने लगा। इन विवादों को दोनों विधवाओं द्वारा उनके बीच मध्यस्थता करने वाले कुछ मध्यस्थों की सलाह के अनुसरण में सुलझाया गया था। इस प्रकार हुआ समझौता 27 मई 1893 (प्रदर्श डी-2) को लिखित रूप में दर्ज किया गया। इस स्तर पर समझौते की मुख्य शर्तों का उल्लेख करना प्रासंगिक होगा। समझौते के अनुसार इसमें शामिल सम्पत्तियों को क्रम संख्या 1 से 5 के रूप में निर्धारित किया। मद नंबर 1, जो तीन ब्लॉकों में एक घर था, को प्रत्यर्थी और उसकी बहन अपुरुप्पम्मल के बीच विभाजित किया गया था, जिन्हें एक हिस्सा लेना था। एथिराजम्मल जिसे दूसरा हिस्सा लेना था और अंडालम्मल को तीसरा हिस्सा लेना था। मकान नंबर 62, जो मद नंबर 2 था तथा मकान तथा दुकानें नंबर 126 और 127 को मद नंबर 3 के रूप में दिखाया गया था, को बेचने की सहमति हुई और यह तय हुआ कि बिक्री से प्राप्त आय में से मृतक माधव रामानुज मुदलियार और उसके पिता के ऋण का भुगतान किया जाएगा प्रशासन पत्र प्राप्त करने में किए गए खर्च को बिक्री के खर्च के साथ काट लिया जाना और शेष राशि को दोनों विधवाओं को समान रूप से विभाजित किया जाना तय किया गया, सास को उसके गहनों के बदले हजार रुपये दिए जाने थे। दो 'काँनी' भूमि जो मद संख्या 4 पर थी को मृतक माधव रामानुज मुदलियार के मामा को देने पर सहमति बनी, जबकि चल सम्पत्ति जो मद संख्या 5 के रूप में दिखाई गई थी उन्हें दोनों विधवाओं के बीच आधा-आधा बांटा जाना था। इस दस्तावेज में एक उपबंध शामिल था जिसमें यह माना गया कि - यदि हममें से कोई भी शर्तों का उल्लंघन करता है तो दूसरा पक्ष न केवल इस समझौते

को रद्द कर देगा बल्कि समझौते से पहले की तरह माधव रामानुज मुदलियार की उन सम्पत्ति पर उसका अधिकार किसी भी तरह से प्रभावित नहीं होगा जिनके लिए यह समझौता किया गया है। इस प्रकार निष्पादित दस्तावेज को 4 गवाहों द्वारा प्रमाणित किया गया।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस समझौते को अंतिम रूप दिए जाने के तुरंत बाद प्रतिवादी संख्या 3 कृष्णासामी मुदिलियार ने इसकी वैधता पर आपत्ति जताई और इसमें निर्दिष्ट तरीके से सम्पत्ति के निपटारे के विधवाओं के अधिकारों पर विवाद किया। हालांकि उन्हें अपनी आपत्तियां त्यागने के लिए मना लिया गया और उसके द्वारा 10 सितम्बर 1894 को डिक्री विलेख निष्पादित किया जिसमें उसने अपने प्रत्यावर्ती अधिकारों को दोनों विधवाओं के पक्ष में प्रतिफल के बदले अंतरित किया। इस दस्तावेज के द्वारा प्रतिवादी संख्या 3 की ओर से मृतक की सम्पत्ति के संबंध में दोनों विधवाओं को पूर्ण स्वामित्व देना तात्पर्यीत था (प्रदर्श डी-3)। इस दस्तावेज के बाद दोनों विधवाओं ने अपने बीच हुई सहमति के अनुसार सम्पत्ति का उपभोग शुरू कर दिया।

4 फरवरी 1895 को दोनों विधवाओं ने वादपत्र के साथ संलग्न अनुसूची ii में वर्णित आइटम नंबर 1 यानी दुकान नंबर 126 और 127 क्रमशः अन्ना पिल्लड्र स्ट्रीट और आॅडियप्पा नाइक स्ट्रीट को थाथा वेंकट राघव सुब्बू चेट्टी को विक्रय कर दिया। अपीलकर्ता अनुसूची ii के आइटम संख्या 1 के संबंध में उक्त विभाजन के स्वामित्व का उत्तराधिकारी है। वर्तमान अपील में हमारा संबंध केवल इसी मद (आइटम) से है।

27 मई, 1895 को मृतक की सम्पत्ति के विभाजन और प्रशासन का एक समग्र विलेख दोनों विधवाओं द्वारा उनके बीच निष्पादित किया गया था (प्रदर्श डी -5)। इस दस्तावेज के द्वारा घर के 3 ब्लाॅकों जिसे पूर्व में प्रदर्श डी -2 में मद नम्बर 1 के

रूप में दर्शाया गया है, को संबंधित प्राप्तकर्ताओं के कब्जे में सौंप दिया गया। जैसा कि निर्धारित था मृतक के मामा को दो 'कौनी' भूमि दी गई तथा मृतक के ऋणों को चुकाया गया तथा प्रशासन पत्र के संबंध में किए गए खर्चों को पूरा किया गया। इन परिस्थितियों में प्रत्यर्थी ने उसका वर्तमान वाद संख्या 56/1946 मद्रास उच्च न्यायालय में मूल रूप से दायर किया और उसने दावा किया कि दो विधवाओं द्वारा किया गया अन्य संक्रामण उस पर बाध्यकारी नहीं था और वह मृतक माधव रामानुज मुदलियार द्वारा छोड़ी गई सम्पत्ति पर कब्जे का हकदार था। वादपत्र के साथ संलग्न अनुसूची में सम्पत्ति की चार मदों का उल्लेख है और जैसा कि हमने पहले ही बताया है कि इन चार मदों में से केवल मद नंबर 1 से हमारा संबंध है जिसके बारे में हम वर्तमान अपील में विचार कर रहे हैं।

उक्त मद के संबंध में अपीलकर्ता ने आग्रह किया कि दो विधवाओं के बीच का समझौता (प्रदर्श डी-2) और उसके अनुसरण में निष्पादित समग्र विलेख (प्रदर्श डी -5) एक पारिवारिक व्यवस्था की प्रकृति के थे और इस प्रकार वे प्रत्यर्थी पर बाध्यकारी थे। अपीलकर्ता द्वारा यह भी आरोप लगाया कि प्रत्यर्थी को उक्त व्यवस्था के तहत लाभ प्राप्त हुआ था और उसने अपने आचरण से इसकी पुष्टि की थी। अपीलकर्ता ने आगे दलील दी कि उसके पूर्ववर्ती के पक्ष में अंतरण विधिक आवश्यकता द्वारा समर्थित था। संयाेगवश् अपीलकर्ता द्वारा समर्पण की दलील भी प्रस्तुत की है।

वाद का विचारण करने वाले न्यायमूर्ति श्री कुन्हीरामन ने अवधारित किया कि यहां एक पारिवारिक व्यवस्था थी जो प्रतिवादी को बाध्य करती थी। उन्होंने यह भी माना कि प्रत्यर्थी को उक्त व्यवस्था के तहत लाभ प्राप्त हुआ था इसलिए उसे इसकी वैधता की चुनौती देने से रोका गया था। विद्वान न्यायाधीश ने संयाेगवश् कुछ टिप्पणियां की, जिससे पता चला कि वह अपीलकर्ता द्वारा उठाई गई समर्पण की दलील

बरकरार रखने का इच्छुक था। परिणामस्वरूप प्रत्यर्थी का मुकदमा खारिज कर दिया गया।

इसके बाद प्रत्यर्थी ने मामले में अपील प्रस्तुत की और सफल हुआ। अपीलीय न्यायालय ने अवधारित किया कि विवादित व्यवस्था को एक सद्भाविक पारिवारिक समझौता नहीं कहा जा सकता है जो प्रतिवादी को बाध्य करे। अपीलीय न्यायालय के समक्ष यह माना गया कि अपीलकर्ता द्वारा उठाई गई समर्पण की दलील को कायम नहीं रखा जा सकता और यह तर्क भी मानने योग्य नहीं है कि प्रत्यर्थी पारिवारिक व्यवस्था से बंधा हुआ हो। हालांकि अपीलकर्ता की ओर से यह आग्रह किया गया था कि प्रत्यर्थी का आचरण उसे व्यवस्था की वैधता पर विवाद करने से रोकता है। परंतु अपीलीय न्यायालय ने इस तर्क को खारिज कर दिया। इसी तरह यह तर्क भी विफल रहा कि अपीलकर्ता के पूर्ववर्ती के पक्ष में अंतरण विधिक आवश्यकता द्वारा उचित था। इन निष्कर्षों के परिणामस्वरूप प्रत्यर्थी की अपील स्वीकार की गई, विचारण न्यायालय द्वारा पारित डिक्री को रद्द कर दिया गया और प्रत्यर्थी द्वारा किए गए कब्जे के दावे को डिक्री कर दिया गया। तदनुसार प्रत्यर्थी के मुकदमे को उसके द्वारा दावा किए गए मध्यवर्ती लाभ का पता लगाने के लिए आधिकारिक रेफरी के समक्ष भेजे जाने का निर्देश दिया गया। इसी डिक्री के विरुद्ध अपीलकर्ता इस न्यायालय में अपील लेकर आया है।

अपीलकर्ता की ओर से श्री आर केशव अयंगर द्वारा हमारे सामने जो मुख्य मुद्दा उठाया है, वह यह है कि वास्तव में प्रत्यर्थी ने विवादित संव्यवहार की पुष्टि की है और इसके तहत लाभ प्राप्त किया है और अपने आचरण से इसकी पुष्टि की है, इसलिए वह इसकी वैधता और बाध्यकारी प्रकृति को चुनौती देने के लिए स्वतंत्र नहीं है। इस तर्क के समर्थन में उन्होंने हमारी स्वीकृति के लिए इस प्रस्ताव का चित्रांकन किया है कि यदि

कोई व्यक्ति अपने अधिकारों के बारे में पूरी जानकारी रखता है तथा वह किसी ऐसे संव्यवहार पर सहमति देता है जो उसके कहने पर अन्यथा रद्द करने योग्य हो सकता है और इसके तहत लाभ लेता है तो बाद में उसे इसकी वैधता पर विवाद करने से रोक दिया जाता है। इस तर्क के समर्थन में उन्होंने इस न्यायालय के न्यायिक निर्णय साहू माधो दास बनाम पंडित मुकंद राम (1955) 2 एससीआर 22 पर भरोसा किया है। उस न्यायिक निर्णय में इस न्यायालय ने अवधारित किया है कि यह स्थापित कानून है कि एक विधवा द्वारा अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए किया गया अन्य सक्रामंण पूरी तरह से शून्य नहीं है बल्कि केवल प्रत्यावर्तकों द्वारा शून्यकरणीय है जो या तो अभिव्यक्त अनुसमर्थन द्वारा या ऐसे कृत्यों द्वारा जो इसे वैध या बाध्यकारी मानते हैं, अकेले या एक निकाय के रूप में इसे नकारने के अपने अधिकार के प्रयोग करने से वंचित कर दिए गए हों। इस न्यायालय ने यह भी देखा है कि यह कानून की कई शाखाओं में अंतर्निहित सामान्य अनुप्रयोग का एक सिद्धांत है कि एक व्यक्ति जिसे अपने अधिकारों की पूरी जानकारी है, उसने स्वयं शून्यकरणीय लेनदेन के लिए सहमति का चुनाव किया है और इस प्रकार उसने अपने नकारने के अधिकार का प्रयोग नहीं करने का चुनाव किया है, तो वह उस चुनाव से पीछे नहीं हट सकता और बाद के स्तर पर इसे टाल नहीं सकता। स्वयं चुनाव के बाद वह इससे बाध्य है। यह भी तर्क है कि यद्यपि प्रत्यर्थी विवादित संव्यवहार में पक्षकार नहीं हो सकता लेकिन यदि उसके आचरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उसने इसे बनाए रखने के लिए चुनाव किया और इसके तहत लाभ प्राप्त किया है तो उसे चुनाव से पीछे हटने की अनुमति नहीं दी जा सकती। इस प्रकार प्रतिपादित सिद्धांत की शुद्धता के बारे में कोई संदेह नहीं है, लेकिन अपीलार्थी के मार्ग में कठिनाई तब उत्पन्न होती है जब उक्त सिद्धांत की प्रयोज्यता का परीक्षण इस मामले में प्रासंगिक महत्वपूर्ण निष्कर्षों के आलोक में किया जाता है। इसीलिए उन तथ्यों के निष्कर्षों का संक्षेप उल्लेख किया जाना आवश्यक है,



जिस पर साहू माधव दास (1955) 2 एससीआर 22 के मामले में निर्णय दिया गया था। उस मामले में इस न्यायालय ने इस प्रश्न पर विचार किया कि क्या वादी मुकंदराम ने विवादित पारिवारिक व्यवस्था के लिए सहमति व्यक्त की थी, और यह पाया कि चूंकि वह उस व्यवस्था में पक्षकार नहीं था इसलिए व्यवस्था के लिए उसकी सहमति स्पष्ट रूप से स्थापित की जानी चाहिए न कि किसी और चीज द्वारा एवं तथ्यों के बारे में उसका ज्ञान भी। फिर इस प्रकार प्रश्न उठाने के बाद भौतिक साक्ष्य की जांच की गई और यह अवधारित किया गया कि उक्त साक्ष्य के संचयी प्रभाव से यह उचित निष्कर्ष निकला कि वादी की सहमति स्वयं ही व्यवस्था के लिए थी तथा उसका आचरण और साथ ही उसके भाई कन्हैयालाल का आचरण केवल उस परिकल्पना के अनुकूल था। दूसरे शब्दों में भौतिक साक्ष्य की जांच ने इस निष्कर्ष को उचित ठहराया कि मुकंदराम ने वास्तव में संव्यवहार के लिए सहमति देने के लिए चुनाव किया था और इसके तहत लाभ प्राप्त किया था एवं इसलिए चुनाव या अनुसमर्थन के सिद्धांत से उन्हें उक्त संव्यवहार की वैधता पर विवाद करने से रोक दिया। हालांकि यह महत्वपूर्ण है कि नाबालिग बेटों के मामले से निपटते हुए, जो व्यक्तिगत रूप से या अपने संरक्षक के माध्यम से पक्षकार नहीं थे और जिन्होंने पाटो या उसकी बेटियों के माध्यम से स्वामित्व का दावा नहीं किया था, इस न्यायालय ने स्पष्ट रूप से देखा कि जहां तक वे संबंधित थे, उन्हें जो प्राप्त हुआ वह शुद्ध और सरल उपहार थे और मात्र सहमति जिसका अनुमान केवल उपहार को स्वीकार करने से लगाया जा सकता है और उस विशेष उपहार के लिए सहमति होगी इससे अधिक कुछ नहीं और न ही समान रूप से दूसरों को दिए गए उपहारों की सहमति होगी। यह पर्यवेक्षण उन प्रासंगिक निष्कर्षों के विपरीत स्पष्ट रूप से सामने लाता है जिनके आलोक में वादी को विवादित संव्यवहार की वैधता पर विवाद करने से रोका गया था।

अपीलकर्ता ने इस न्यायालय के एक अन्य न्यायिक निर्णय ध्यान सिंह बनाम जुगल किशोर (1955) एससीआर 478 पर भी भरोसा किया है उस मामले में यह माना गया था कि भले ही विवादित पंचाट अवैध था। लेकिन वादी जिसने इसकी वैधता पर विवाद किया था उसे विबंध के कारण उस दावे को करने से वर्जित कर दिया था। ऐसा प्रतीत होता है कि बृजलाल जिसके खिलाफ विबंध की दलील प्रभावी ढंग से उठाई गई थी, ने 1884 में प्रश्नगत सम्पत्ति पर दावा किया था, जब विवादित संव्यवहार हुआ था और इस दावे के परिणामस्वरूप समझौता हुआ तथा विवादित संव्यवहार प्रभावी हुआ। इस न्यायालय ने माना कि भले ही जिस पंचाट को चुनौती दी गई थी वह अवैध था, बृजलाल ने अपने आचरण से स्वयं को पंचाट की वैधता के खिलाफ विवाद उठाने से रोक दिया था। इस निष्कर्ष पर पहुंचते हुए इस न्यायालय ने पाया कि उसके सामने का वर्तमान मामला प्रिवी काउंसिल द्वारा निर्णित कन्हैलाल बनाम बृजलाल (1919) एलआर 45 आईए 118 के समान था। जब हम प्रिवी काउंसिल के निर्णय की ओर मुड़ते हैं तो हम पाते हैं कि कन्हैलाल जिन्हें प्रिवी काउंसिल ने उस व्यवस्था को चुनौती देने से रोक दिया था, जिसमें वह एक पक्षकार थे, ने कथित गोद लेने के आधार पर अपने लिए एक स्वामित्व का निर्धारण कर लिया था और जब उक्त स्वामित्व को ध्यान में रखते हुए एक समझौता किया गया और एक सुलह व्यवस्था की गई तो प्रिवी काउंसिल ने यह माना कि विबंध का सिद्धांत लागू होगा। कन्हैलाल जो बाद में प्रिवी काउंसिल के अनुसार प्रत्यावर्तक बन गया, पिछली व्यवस्था से बाध्य था और अब प्रत्यावर्तनकर्ता के रूप में दावा नहीं कर सकता। यह दोनों निर्णय इस तथ्य पर बल देते हैं कि यदि कोई व्यक्ति संभावित प्रत्यावर्तनकर्ता के रूप में अपने अधिकारों के बारे में पूरी जानकारी रखता है तथा वह ऐसे लेनदेन में प्रवेश करता है जो प्रासंगिक समय में उसके दावे के साथ- साथ उसके विरोधियों के दावे का निपटान करता है तो उसे उस व्यवस्था पर जब प्रत्यावर्तन वास्तव में खुला हो जाता है पर वापस लौटने की अनुमति नहीं दी जा

सकती है। प्रिवी काउंसिल के दो अन्य निर्णय हैं जिनका संदर्भ लिया जा सकता है। रंगास्वामी गौडेन बनाम नचिअप्पा गौडेन(1918) एलआर 46 आईए 72 के मामले में प्रिवी काउंसिल को मुख्य रूप से समर्पण के प्रश्न,इसके सिद्धांत और आवश्यक विशेषताओं से निपटना था। संयाेगवश इसे प्रत्यावर्तक के मामले से भी निपटना था। जो एक हिंदू विधवा के अंतरिती से सम्पत्ति का बंधक लिया था जिसमें अंतरित सम्पत्ति का एक हिस्सा भी शामिल था और सवाल उठाया गया था कि क्या इस तथ्य के कारण कि प्रत्यावर्तक ने उक्त सम्पत्ति को बंधक बनाकर स्वयं को उक्त अंतरण की वैधता को चुनौती देने से रोक दिया था और प्रिवी काउंसिल ने माना कि वह इस प्रकार नहीं रोका गया था। प्रश्न के इस पहलू से निपटने में प्रिवी काउंसिल ने माना कि यह अच्छी तरह से स्थापित है कि यद्यपि जिसे एक संभावित प्रत्यावर्ती उत्तराधिकारी कहा जा सकता है उसके पास शुरुआत से अंतरण को चुनौती देने का अधिकार है, उसे ऐसा करने की आवश्यकता नहीं है, लेकिन विधवा की मृत्यु तक इंतजार करने का अधिकार है, जो उसके स्वरूप को निर्धारित करेगा, एक स्वरूप जो उस तारीख तक जन्म या गोद लेने से पराजित हो सकता है। प्रिवी काउंसिल ने तब बंधक की प्रकृति, इसमें सम्मिलित सम्पत्तियों की जांच की और देखा कि उक्त बंधक में मिता का 2/14 वां हिस्सा शामिल था जो बंधक कर्ताओं के उनके स्वयं के उत्तराधिकार के अधिकार के रूप में आया था। और शेष हिस्सा विवादित गिफ्ट के माध्यम से उनके पास आया था। तब यह देखा गया कि एक गिरवी के समय गिरवीदार को यह पता नहीं था कि वह वास्तव में इस प्रकार का प्रत्यावर्तनकर्ता होगा कि उसे गिफ्ट विलेख के साथ विवाद करने का व्यवहारिक हित मिलेगा और प्रिवी काउंसिल ने पूछा, "उन्हें वह सब क्यों नहीं लेना चाहिए जो बंधक देने वाले दे सकते थे या देने का प्रस्ताव कर सकते थे" "ऐसा करके उसे बनाए रखने के लिए" प्रिवी काउंसिल ने कहा, "उन्होंने खुद को एक हिस्से पर अपना स्वामित्व जताने से रोक लिया, जो कुछ भी गिरवी रखा गया था, वह उनके

आधिपत्य के लिए एक बिल्कुल अनुचित प्रस्ताव लगता है।" यह निर्णय दर्शाता है कि चुनाव या विबंध या अनुसमर्थन के सिद्धांत को उचित सावधानी के साथ लागू किया जाना चाहिए और मात्र यह तथ्य कि संव्यवहार के तहत प्रत्यावर्तनकर्ता को कुछ लाभ प्राप्त हुआ है या उसने संव्यवहार हुआ तब उसकी वैधता को चुनौती नहीं दी है, उसके अधिकारों पर रोक नहीं लगाई जा सकती है जबकि प्रत्यावर्तन उसके पक्ष में खुल जाता है।

आखिरी मामला जिस पर अपीलार्थी ने भरोसा जताया है वह प्रिवी काउंसिल का न्यायिक निर्णय रामगौडा अन्नागौडा बनाम भाऊसाहेब (1927) एलआर 54 आईए 396 है। इस मामले में अंतिम पुरुष धारक की विधवा ने एक ही दिन में निष्पादित और पंजीकृत तीन विलेख द्वारा अपने पति की लगभग पूरी सम्पत्ति को अंतरित कर दिया था। विलेख एक अभिकल्पित प्रत्यावर्तनकर्ता के पक्ष में था। प्रिवी काउंसिल ने माना कि तीनों विलेख को सम्पत्तियों में हित रखने वाले सभी व्यक्तियों द्वारा किए गए एक संव्यवहार के रूप में माना जाना चाहिए और उसके बाद प्रत्यावर्तन खुले होने पर प्रत्यावर्तनकर्ता, जो उक्त संव्यवहार में पक्षकार थे उनके आचरण के कारण दोनों अंतरणों पर विवाद करने से रोक दिए गए थे। प्रिवी काउंसिल के अनुसार प्रश्नगत तीनों विलेख एक साथ अविभाज्य रूप से जुड़े हुए थे और उस दृष्टि से अन्नागौडा प्रत्यावर्तनकर्ता जिसने तीन में से दो लेनदेन को चुनौती दी थी, ने न केवल शिवगौडा को बिक्री और बसप्पा को गिफ्ट देने की सहमति दी, जो दो संव्यवहार पर अभियोग लगाया, लेकिन ये प्रबंध उसी संव्यवहार का हिस्सा थे जिसके द्वारा उन्होंने स्वयं सम्पत्ति का एक हिस्सा हासिल किया था। इस प्रकार यह अच्छी तरह से तय माना जा सकता है कि यदि कोई अनुमानित प्रत्यावर्तनकर्ता किसी ऐसी व्यवस्था का पक्षकार है जिसे उचित रूप से पारिवारिक व्यवस्था कहा जा सकता है और इसके तहत लाभ लेता है तथा प्रत्यावर्तन समाप्त होने पर वास्तविक प्रत्यावर्ती बन जाता है तो उसे उक्त व्यवस्था की वैधता पर

विवाद करने से रोका जाएगा। अनुसमर्थन के सिद्धांत को एक अनुमानित प्रत्यावर्तक के खिलाफ भी लिया जा सकता है, जो संव्यवहार के लिए एक पक्षकार नहीं है लेकिन बाद में इसे सहमति देकर और इसके तहत लाभ लेकर अपने अधिकारों की पूरी जानकारी के साथ पूरी पुष्टि करता है। हालांकि यह स्पष्ट है कि एक हिंदू विधवा जो अपने मृत पति की सम्पत्ति को अंतरित कर देती है, ऐसी व्यवस्था के तहत लाभ प्राप्त करने की मात्र रसीद द्वारा एक अनुमानित प्रत्यावर्तनकर्ता को उक्त अंतरण की वैधता पर विवाद करने से नहीं रोकेंगी जबकि वह वास्तविक प्रत्यावर्तनकर्ता बन जाता है। यह हमेशा तथ्य का प्रश्न होना चाहिए कि क्या उक्त प्रत्यावर्तनकर्ता का आचरण जिस पर अनुसमर्थन की दलील आधारित है कानून में उचित रूप से तथाकथित अनुसमर्थन के समान है। इन सिद्धांतों के आलोक में हमें अब वर्तमान अपील में प्रासंगिक तथ्यों पर विचार करना चाहिए।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि दोनों विधवाओं के बीच विवाद के परिणामस्वरूप और परिवार के शुभ चिन्तकों के हस्तक्षेप से 27 मई 1893 को जो संव्यवहार हुआ वह हिंदू विधि के तहत समझे जाने वाली पारिवारिक व्यवस्था नहीं है। यह स्थिति उच्च न्यायालय के समक्ष स्वीकार की गई थी और हमारे समक्ष विवादित नहीं है (प्रदर्श डी-2)। इसी प्रकार प्रतिवादी संख्या 3 द्वारा दोनों विधवाओं के पक्ष में निष्पादित किया गया विक्रय विलेख कोई सहायता नहीं करता क्योंकि यह स्पष्ट रूप से प्रतिवादी संख्या 3 के प्रत्यावर्ती अधिकारों का विक्रय था जो तब स्पेस सक्सेशनिस से बेहतर नहीं था और यह संव्यवहार (प्रदर्श डी-3) दो विधवाओं के बीच पहले की व्यवस्था को वैध करने में मदद नहीं कर सकता। 27 मई 1895 का समग्र दस्तावेज (प्रदर्श डी-5) वास्तव में दो विधवाओं के बीच मूल व्यवस्था को पूरा करने के उद्देश्य से निष्पादित एक अन्य संक्रामण से अधिक कुछ नहीं है। इस प्रकार इस प्रश्न से देखने में कि क्या प्रतिवादी को विवादित संव्यवहार की वैधता को चुनौती देने से रोका गया है यह ध्यान में रखना

आवश्यक है कि मूल संव्यवहार पारिवारिक प्रबंधन/व्यवस्था की प्रकृति का संव्यवहार नहीं है। इसके अलावा वह तब नाबालिग था और स्वीकृत रूप से वह उक्त किसी भी संव्यवहार में पक्षकार नहीं था।

हालांकि यह आग्रह किया गया कि प्रतिवादी ने पूर्व में प्रदर्श डी5 के तहत उसे दी गई सम्पत्ति के संबंध में कलक्टर से एक प्रमाण पत्र या पट्टा प्राप्त किया था और यह तर्क है कि उसने जानबूझकर उक्त पट्टे को रोक रखा था क्योंकि उसे आशंका थी कि यदि पट्टा पेश किया गया तो यह उसके खिलाफ जाएगा। पट्टा प्रस्तुत न करने के लिए प्रतिवादी द्वारा दिए गए स्पष्टीकरण को असंतोषजनक बताया गया और यह आग्रह किया गया कि उक्त स्पष्टीकरण संभवतः दस्तावेज के बारे में न्यायालय से परदा डालने के उसके इरादे को छिपा नहीं सकता है। अपनी जिरह में प्रत्यर्थी ने कहा कि कलक्टर का प्रमाण पत्र जो उसे उसकी दादी ने दिया था, उसके द्वारा सिविल कोर्ट में वाद संख्या 495/1916 में प्रस्तुत किया था और उसने यह भी जोड़ा कि उक्त मुकदमे में उसके वकील ने उसे वह दस्तावेज वापस नहीं किया। हम यह मान सकते हैं कि प्रतिवादी ने उसके कब्जे में दस्तावेज होने पर भी प्रस्तुत नहीं किया है लेकिन हमारे पास रिकॉर्ड पर दो दस्तावेज हैं जो अन्य प्राप्तकर्ताओं को जारी किए गए थे और अपीलकर्ता यह मानने का हकदार है कि प्रत्यर्थी के पक्ष में एक समरूप दस्तावेज जारी किया गया था। हमारी राय में रिकॉर्ड पर मौजूद दो दस्तावेज अपीलकर्ता के इस तर्क का समर्थन नहीं करते हैं कि प्रत्यर्थी द्वारा अपने पक्ष में पट्टा प्राप्त करने से पहले कलक्टर को अभ्यावेदन दिया गया था। वास्तव में पट्टा जारी करना एक सामान्य प्रक्रिया है जो पंजीकृत विक्रय विलेख के निष्पादन के बाद आवश्यक रूप से होगा (प्रदर्श डी 5)। उक्त दस्तावेज के पंजीकरण पर जिन व्यक्तियों को कतिपय अचल सम्पत्ति प्राप्त हुई, उन्हें इसके तहत कलक्टर द्वारा सामान्य प्रक्रिया में प्रमाण पत्र दिए गए थे और

इसलिए प्रत्यर्थी के खिलाफ कोई तर्क नहीं गढ़ा जा सकता है कि पट्टे की स्वीकृति, बिक्री के मूल संव्यवहार के अनुसमर्थन के बराबर है।

फिर यह आग्रह किया जाता है कि अपरूपम्मल द्वारा प्रत्यर्थी और एक अन्य के खिलाफ मद्रास के सिटी सिविल कोर्ट में प्रस्तुत सिविल वाद संख्या 495/1916 में प्रत्यर्थी ने लिखित कथन प्रस्तुत किया जिसमें विवादित संव्यवहार की वैधता को स्वीकार किया। ऐसा प्रतीत होता है कि उस मुकदमे में वादी ने अपना दावा उक्त आक्षेपित संव्यवहार पर आधारित किया था और उक्त दावे के संबंध में प्रत्यर्थी ने अपने लिखित कथन के पैराग्राफ 2 में आरोप लगाया था कि मृतक गाेविंदा मुदलियार की माता और विधवा के बीच उत्पन्न हुए कुछ विवादों के परिणामस्वरूप एक समझौता हुआ जिसके अनुसरण में कुछ स्थानांतरण किए गए जो उसने स्वीकार किए। ऐसा कहा गया कि यह उक्त संव्यवहार की वैधता की स्वीकृति के समान है (प्रदर्श डी 15)। हालांकि यह तर्क इस तथ्य पर ध्यान देने में विफल रहा है कि उक्त समझौता का जिक्र करते समय प्रत्यर्थी ने स्पष्ट रूप से जोड़ा था कि उक्त सुलह समाधान स्पष्ट रूप से मृतक गोविंदा मुदलियार की विधवा के जीवन के दौरान की किरायेदारी पर प्रभावी होगा (प्रदर्श पी 3)। दूसरे शब्दों में कथन को समग्र रूप से लेते हुए, जैसा कि हमें करना चाहिए, प्रतिवादी ने उक्त समझौते को विधवा द्वारा किए गए अंतरण के रूप में देखा और उसके जीवनकाल के दौरान प्रभावी होने का कथन किया और इससे अधिक नहीं। दूसरे शब्दों में प्रत्यर्थी के खिलाफ अनुसमर्थन की दलील का समर्थन करने के बजाय यह कथन उसके मामले को मजबूत करता है कि उसने इस ज्ञान के साथ लाभ लिया और इस विश्वास के तहत कि जिस व्यवस्था के अंतर्गत उक्त लाभ प्राप्त हुआ उसका उद्देश्य विधवा के जीवनकाल के दौरान लागू करना था और इस तरह विधवा के जीवित रहते हुए उसके पास उसकी वैधता को चुनौती देने का कोई अवसर नहीं था।

कुछ इसी तरह का तर्क मद्रास उच्च न्यायालय में बहन के बेटे मसिलमणि मुदाली और मृतक गोविंदा मुदलियार द्वारा दायर सिविल वाद संख्या 1117/1921 के संबंध में प्रत्यर्थी के आचरण पर आधारित है (प्रदर्श डी 16)। इस मुकदमे में प्रत्यर्थी को प्रतिवादी संख्या 7 के रूप में सम्मिलित किया गया था इस मुकदमे में उक्त वादी ने व्यवस्था/प्रबंधन की वैधता को चुनौती दी थी और वादी के प्रत्यावर्ती के अधिकार पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हुए सम्पत्ति के साथ व्यवहारके संबंध में मुकदमे के प्रतिवादी संख्या 6 उदयवर कोइल के ट्रस्टी थुग्गी कौंडैया चेट्टी और अन्य प्रतिवादीगण के खिलाफ उचित निषेधाज्ञा मांगी थी। उक्त मुकदमे के अभिवचन या मांगे गए अनुतोष के विवरण का विस्तृत उल्लेख करना अनावश्यक है। एकमात्र बिंदू जिस पर विचार करना प्रासंगिक है वह यह है कि प्रत्यावर्तनकर्ता ने प्रश्नगत व्यवस्था/प्रबंधन को चुनौती दी थी। प्रत्यर्थी के अपने लिखित कथन में वादी द्वारा प्रस्तुत दलील का समर्थन करने का अभिप्राय था और यह भी कहा था कि वह प्रतिवादी संख्या 2 से 4 की ओर से सम्पत्तियों को उनके कब्जे और उपभोग के संबंध में अंतरण करने के किसी भी प्रयास के बारे में व्यक्तिगत रूप से नहीं जानता था। हालांकि यह मुकदमा सुनवाई के लिए आगे नहीं बढ़ सका क्योंकि अभियोजन के अभाव में इसे खारिज कर दिया था और तर्क यह है कि चूंकि प्रत्यर्थी ने उक्त मुकदमे में वादी का समर्थन किया था, इसलिए जब उसने यह देखा कि मूल वादी द्वारा मुकदमा नहीं चलाने के कारण मुकदमे को खारिज किया जा रहा है तो यह आवश्यक था कि उसे स्वयं को वादी के रूप में रूपांतर करना चाहिए था। हमारी राय में यह तर्क दूर की कौड़ी है और प्रत्यर्थी के खिलाफ अनुसमर्थन की दलील को संभवतः कायम नहीं रखा जा सकता है। यदि प्रत्यर्थी ने इस स्पष्ट समझ के साथ प्रबंधन/व्यवस्था के अंतर्गत सम्पत्ति पर कब्जा प्राप्त कर लिया कि यह प्रबंधन/व्यवस्था केवल विधवा के जीवनकाल के दौरान ही रहेगा तो हमें इस



धारणा का कोई आँचित्य नहीं दिखता कि उसे सिविल वाद संख्या 1117/1921 को चलाना चाहिए था या वास्तव में उक्त व्यवस्था/प्रबंधन को चुनौती देनी चाहिए थी।

अनुसमर्थन की दलील के समर्थन में दिया गया अंतिम तर्क वर्तमान मामले में प्रत्यर्थी द्वारा दी गई मौखिक साक्ष्य पर आधारित है। प्रत्यर्थी से मृतक मुदलियार की मां और विधवा के बीच के झगड़े के बारे में पूछा गया तो उन्होंने कहा कि वे एक साथ रहते थे और उनके बीच झगड़े होते थे। फिर उससे पूछा गया कि क्या उन्हें विवादित व्यवस्था/प्रबंधन के तहत सम्पत्ति मिली है, तो उन्होंने कहा कि उनकी दादी ने उन्हें कलक्टर के प्रमाण पत्र के साथ घर दिया था और उससे कहा था कि वह जल्द ही मरने वाली है इसलिए वह घर ले सकता है। प्रतिवादी ने यह भी स्वीकार किया कि चूंकि घर उसे और उसकी बहन को सौंप दिया था इसलिए वह उस पर काबिज थे और इसकी आय का उपभोग कर रहे थे। प्रत्यर्थी ने तब कहा कि उन्हें 1895 के दस्तावेज के बारे में 1916 तक जानकारी नहीं थी और उन्हें दोनों विधवाओं के बीच विभाजन के बारे में केवल 1910 में पता चला। यह आग्रह किया गया कि इस कथन पर विश्वास नहीं किया जाना चाहिए और प्रत्यर्थी की सच्चाई का खुलासा करने की अनिच्छा के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि वह विवादित संव्यवहार और उसके प्रभाव के बारे में सब कुछ जानता था और जब उसने उक्त संव्यवहार के तहत उसे आवंटित सम्पत्ति पर कब्जा प्राप्त किया तो उसे अपने अधिकारों के बारे में पूरी तरह से पता था और उसने पूरे संव्यवहार को अनुसमर्थित करने के उद्देश्य से लाभ को स्वीकार कर लिया। हमारी राय में इस तर्क में कोई सार नहीं है।

इस संबंध में यह याद रखना प्रासंगिक है कि जब 1929 का अधिनियम ii पारित हुआ, एक बहन के बेटे जैसे प्रत्यर्थी को वास्तविक प्रत्यावर्तनकर्ता बनने के बहुत कम अवसर प्राप्त थे, वह बंधुओं की सूची में आ गया और इसलिए यह मानना मुश्किल

होगा कि जिस समय प्रत्यर्थी ने घर को गिफ्ट के रूप में स्वीकार किया उसे संभावित प्रत्यावर्तनकर्ता के रूप में अपने अधिकारों के बारे में पता हो। इसके अलावा विवादित संव्यवहार के तहत उसे जो लाभ प्राप्त हुआ वह 7 फरवरी 1887 (प्रदर्श डी1) को गोविंदा मुदलियार और माधव रामानुज मुदलियार के बीच हुए एक पूर्व प्रबंधन/व्यवस्था के तहत भी दावा कर सकता था। उक्त दस्तावेज द्वारा बताई गई व्यवस्था/प्रबंधन को ध्यान में रखते हुए प्रत्यर्थी और मृतक मुदलियार की बहनों के अन्य बच्चों को दिया गया लाभ भी उक्त व्यवस्था पर आधारित हो सकता था और 1893 व 1895 के सभी संव्यवहार के लिए इसे प्रभावी किया गया था (प्रदर्श डी2 व डी 5)। इसके अलावा जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं 1893 में प्रत्यर्थी नाबालिग था और जब 1895 के बाद उसने सम्पत्ति पर कब्जा कर लिया तो सबूतों से यह प्रकट नहीं होता है कि वह जानता हो कि विधवाओं का इरादा सम्पत्ति को पूर्ण स्वामी की तरह उपयोग करने का और इस संव्यवहार के अंतर्गत संबंधित प्राप्तकर्ताओं और अंतरितियों को पूर्ण स्वामित्व सौंपने का था। वह प्रत्यावर्तनकर्ता के रूप में अपने अधिकारों के बारे में नहीं जान सका। इसलिए हमारी राय में उच्च न्यायालय का यह मानना सही था कि अपीलार्थी, प्रत्यर्थी के खिलाफ अनुसमर्थन की अपनी दलील स्थापित करने में विफल रहा है। वास्तव में अन्यथा धारणा करना प्रिवी काउंसिल के शब्दों में एक बिल्कुल अनुचित प्रस्ताव होगा (1918) एलआर 46 आईए 72 (पेज 87) ।

इस तरह विधिक आवश्यकता का प्रश्न विचार करने से रह जाता है। उच्च न्यायालय ने माना है कि विवादित स्थानांतरण को विधिक आवश्यकता द्वारा उचित नहीं कहा जा सकता है और हमारी राय में इस बिंदू पर उच्च न्यायालय का निष्कर्ष स्पष्ट रूप से सही है। इस प्रश्न के निस्तारण में यह याद रखना प्रासंगिक हो सकता है कि मृतक मुदलियार की विधवा ने 26 अप्रैल 1893 को मृतक की सम्पत्ति के प्रशासन पत्र प्राप्त किए थे और हमेशा की तरह पत्र जारी करने में शर्त लगा दी गई थी और विधवा

से कहा गया कि वह अपेक्षित मंजूरी के बिना सम्पत्ति का सौदा या अंतरण नहीं कर सकती है। प्रत्यर्थी की ओर से श्री शास्त्री द्वारा हमारे सामने रखे गए तर्क में कुछ दम है कि अपेक्षित मंजूरी प्राप्त करने की आवश्यकता से बचने के लिए मृतक मुदलियार की विधवा को उसकी सास ने राजी किया था ताकि पारिवारिक समझौते/प्रबंधन की आड़ में विवादित लेनदेन में शामिल हुआ जा सके। दस्तावेज (प्रदर्श डी5) स्वयं विधिक आवश्यकता द्वारा उचित ठहराया जाने को प्रकट नहीं करता है। शर्तों में इसका तात्पर्य 1893 की मूल व्यवस्था/प्रबंधन (प्रदर्श डी2) को प्रभावी बनाना है और यदि उक्त व्यवस्था, पारिवारिक व्यवस्था के रूप में वैध नहीं है तो आगामी स्थानांतरण भी अवैध होगा। इसके अलावा कुल लगभग 10 हजार रुपये के प्रतिफल में से 776 रुपये मृतक मुदलियार द्वारा देय ऋण का प्रतिनिधित्व करने के लिए लिया जा सकता है। प्रतिफल की शेष मदों को विधिक आवश्यकता के रूप में बिल्कुल नहीं माना जा सकता है। 558 रुपये की राशि दस्तावेज को निष्पादित करने के लिए व्यय की गई थी। इसी तरह 409 रुपये की राशि मृतक मुदलियार के अंतिम संस्कार के खर्च के रूप में जाहिर तौर पर विधवा द्वारा खर्च किया गया था, जो खुद का पुर्नभरण करना चाहती थी और यह विधिक आवश्यकता नहीं हो सकती है। प्रतिफल की अन्य मदें भी विधिक आवश्यकता के लिए तात्पर्यीत नहीं हैं। इसलिए हमारी राय में यह निष्कर्ष अपरिहार्य है कि विवादित स्थानांतरण विधिक आवश्यकता के रूप में उचित नहीं है। परिणामस्वरूप अपील विफल हो जाती है और व्यय के साथ खारिज की जाती है। अपील खारिज की गई।

यह अनुवाद आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस टूल 'सुवास' की सहायता से अनुवादक लोकेश कुमार शर्मा (न्यायिक अधिकारी) द्वारा किया गया है।

**अस्वीकरण:** यह निर्णय पक्षकार को उसकी भाषा में समझाने के सीमित उपयोग के लिए स्थानीय भाषा में अनुवादित किया गया है और किसी अन्य उद्देश्य के लिए इसका उपयोग नहीं किया जा सकता है। सभी व्यावहारिक और आधिकारिक उद्देश्यों के लिए, निर्णय का अंग्रेजी संस्करण ही प्रामाणिक होगा और निष्पादन और कार्यान्वयन के उद्देश्य से भी अंग्रेजी संस्करण ही मान्य होगा।